

Chapter सत्ताईस

इन्द्रदेव तथा माता सुरभि द्वारा स्तुति

इस अध्याय में यह वर्णन हुआ है कि किस तरह सुरभि गाय तथा इन्द्र ने कृष्ण की अद्भुत शक्ति देखकर उनका अभिषेक किया।

भीषण तूफान से वृन्दावन पर आक्रमण करने से लज्जित इन्द्र छिपकर भगवान् कृष्ण के पास आया, उन्हें नमस्कार किया और उनकी प्रशंसा की। इन्द्र ने कहा कि कृष्ण कभी भी अज्ञानजनित भौतिक मोह की भँवर में नहीं पड़ते फिर भी वे मनुष्य जैसा शरीर धारण करके धर्म की स्थापना करने तथा दुष्टों को दण्ड देने के लिए विविध लीलाएँ करते हैं। इस तरह वे उन लोगों का मिथ्या दर्प चूर करते हैं, जो अपने को परम नियन्ता मानते हैं। इन्द्र ने यहाँ तक कह डाला कि कृष्ण समस्त जीवों के

पिता, गुरु तथा स्वामी हैं और काल रूप में वे उन्हें दण्ड देने वाले हैं।

इन्द्र की स्तुतियों से प्रसन्न होकर श्रीकृष्ण ने इन्द्र को बतलाया कि उन्होंने इन्द्र यज्ञ इसलिए बन्द कराया जिससे मिथ्या अभिमान से गर्वित वह भगवान् को याद रखे। भौतिक ऐश्वर्य के मद में चूर व्यक्तियों को अपने समक्ष भगवान् अपने हाथ में दण्ड धारण किये खड़े हुए नहीं दिखते। इसलिए जब भगवान् कृष्ण किसी व्यक्ति का वास्तविक भला चाहते हैं, तो वे उसके ऐश्वर्य-पद से उसे नीचे ला देते हैं।

भगवान् कृष्ण ने इन्द्र को आदेश दिया कि वह स्वर्ग में अपने उपयुक्त पद पर लौट जाय और बिना अहंभाव के वहाँ सेवा करे। तत्पश्चात् इन्द्र ने सुरभि गाय के साथ भगवान् कृष्ण का अभिषेक सम्पन्न किया जिसके लिए स्वर्ग की गंगा का जल तथा माता सुरभि का दूध प्रयुक्त किया गया। इस अवसर का लाभ उठा कर इन्द्र तथा गाय ने भगवान् का नाम गोविन्द रखा और देवताओं ने पुष्प बरसाये तथा विविध स्तुतियाँ सुनाई।

श्रीशुक उवाच

गोवर्धने धृते शैले आसाराद्रक्षिते व्रजे ।

गोलोकादात्रजत्कृष्णां सुरभिः शक्र एव च ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा; गोवर्धने—गोवर्धन को; धृते—धारण करने के बाद; शैले—पर्वत; आसारात्—मूसलाधार वर्षा से; रक्षिते—रक्षित हो जाने पर; व्रजे—व्रज में; गो-लोकात्—गो-लोक से; आत्रजत्—आई; कृष्णम्—कृष्ण के पास; सुरभिः—माता सुरभि; शक्रः—इन्द्र; एव—भी; च—तथा।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : कृष्ण के गोवर्धन पर्वत उठाने तथा भयंकर वर्षा से व्रजवासियों की रक्षा करने के बाद गौवों की माता सुरभि गो-लोक से कृष्ण का दर्शन करने आईं। उनके साथ इन्द्र था।

तात्पर्य : गोलोकात् शब्द सूचित करता है “गोलोक नामक भौतिक लोक” जो अद्वितीय गौवों से भरापुरा है। सुरभि तो प्रसन्नतापूर्वक कृष्ण का दर्शन करने गई थी किन्तु इन्द्र डरते-डरते गया था। जैसाकि इस श्लोक से इंगित होता है अपने वृन्दावनसंगियों को इन्द्र के अपमानजनक आक्रमण से बचाने के लिए कृष्ण को असामान्य युक्तियों का सहारा लेना पड़ा था। इन्द्र निश्चित रूप से लज्जित था और अपने भविष्य के प्रति हताश भी था। उसने अनुचित कर्म किया था इसलिए वह डरते हुए ब्रह्मा

की शरण में गया था जिन्होंने उसे आदेश दिया था कि वह अपने साथ भौतिक गोलोक से सुरभि को ले करके कृष्ण का दर्शन करने जाय।

विविक्त उपसङ्गम्य व्रीडीतः कृतहेलनः ।
पस्पर्श पादयोरेनं किरीटेनार्कवर्चसा ॥ २ ॥

शब्दार्थ

विविक्ते—एकान्त स्थान में; उपसङ्गम्य—जाकर; व्रीडितः—लज्जित; कृत-हेलनः—अपराध किये जाने से; पस्पर्श—उसने स्पर्श किया; पादयोः—दोनों पैरों का; एनम्—उनको; किरीटेन—अपने मुकुट से; अर्क—सूर्य के समान; वर्चसा—तेज वाला।

भगवान् का अपमान करने के कारण इन्द्र अत्यन्त लज्जित था। एकान्त स्थान में उनके पास जाकर इन्द्र उनके चरणों पर गिर पड़ा और सूर्य के समान तेज वाले मुकुट को भगवान् के चरणकमलों पर रख दिया।

तात्पर्य : वह एकान्त स्थान जहाँ इन्द्र कृष्ण के पास पहुँचा था उसका उल्लेख श्रीवैशम्पायन मुनि ने हरिवंश (विष्णु पर्व १९.३) में किया है—*स ददर्शोपविष्टं वै गोवर्धन शिलातले*—उसने उन्हें (कृष्ण को) गोवर्धन पर्वत की तलहटी पर बैठे देखा।

आचार्यों की टीकाओं से हम समझ जाते हैं कि भगवान् कृष्ण इन्द्र को मिलने के लिए एकान्त स्थान प्रदान करना चाह रहे थे जिससे वह और आगे अपमानित न हो। इन्द्र आत्मसमर्पण करने और क्षमा-याचना करने आया था अतः भगवान् ने उसे एकान्त में ऐसा करने की अनुमति दे दी।

दृष्टश्रुतानुभावोऽस्य कृष्णस्यामिततेजसः ।
नष्टत्रिलोकेशमद इदमाह कृताञ्जलिः ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

दृष्ट—देखा हुआ; श्रुत—सुना हुआ; अनुभावः—शक्ति; अस्य—इस; कृष्णस्य—भगवान् कृष्ण की; अमित—अपार; तेजसः—जिसकी शक्ति; नष्ट—नष्ट; त्रि-लोक—तीनों जगतों का; ईश—स्वामी होने का; मदः—नशा; इदम्—ये शब्द; आह—कहे; कृत-अञ्जलिः—याचना में अपने हाथ जोड़े।

अब तक इन्द्र सर्वशक्तिमान कृष्ण की दिव्य शक्ति को सुन तथा देख चुका था और इस तरह तीनों जगतों के स्वामी होने का उसका मिथ्या गर्व चूर हो चुका था। याचना के लिए दोनों हाथ जोड़कर उसने भगवान् को इस प्रकार सम्बोधित किया।

इन्द्र उवाच

विशुद्धसत्त्वं तव धाम शान्तं
 तपोमयं ध्वस्तरजस्तमस्कम् ।
 मायामयोऽयं गुणसम्प्रवाहो
 न विद्यते ते ग्रहणानुबन्धः ॥ ४ ॥

शब्दार्थ

इन्द्रः उवाच—इन्द्र ने कहा; विशुद्ध-सत्त्वम्—दिव्य सतोगुण दिखाने वाला; तव—तुम्हारा; धाम—स्वरूप; शान्तम्—अपरिवर्तनीय; तपः-मयम्—ज्ञान से पूर्ण; ध्वस्त—विनष्ट; रजः—रजोगुण; तमस्कम्—तथा तमोगुण को; माया-मयः—माया पर आधारित; अयम्—यह; गुण—भौतिक प्रकृति के गुणों की; सम्प्रवाहः—धारा; न विद्यते—उपस्थित नहीं है; ते—तुम्हारे भीतर; अग्रहण-इग्नोरन्चे; अनुबन्धः—व्हिछ् इस् दुए तो.

राजा इन्द्र ने कहा : आपका दिव्य रूप शुद्ध सतोगुण का प्राकट्य है, यह परिवर्तन से विचलित नहीं होता, ज्ञान से चमकता रहता है और रजो तथा तमोगुणों से रहित है। आपके भीतर माया तथा अज्ञान पर आश्रित भौतिक गुणों का प्रबल प्रवाह नहीं पाया जाता।

तात्पर्य : भागवत के महान् टीकाकार श्रील श्रीधर स्वामी ने इस गूढ़ श्लोक की विवेचना बड़ी ही विद्वत्ता के साथ की है।

संस्कृत शब्द धाम के कई अर्थ होते हैं—(अ) रहने का स्थान, घर, निवास इत्यादि (आ) कोई प्रिय वस्तु या व्यक्ति, हर्ष, या आनन्द (इ) स्वरूप (ई) शक्ति, बल, यश, वैभव, प्रकाश।

जहाँ तक (अ) के अन्तर्गत दिये गये अर्थों का सम्बन्ध है—वेदान्त सूत्र का कथन है कि परम सत्य समस्त जगत का उद्गम एवं आश्रय है और भागवत के पहले श्लोक में कृष्ण को परम सत्य कहा गया है। यद्यपि भगवान् कृष्ण अपने धाम या आवास में, जिसे कृष्ण-लोक कहते हैं, निवास करते हैं किन्तु वे स्वयं समस्त जगत के धाम हैं जैसाकि अर्जुन ने भगवद्गीता में पुष्टि की है जहाँ वे कृष्ण को परंधाम कहकर सम्बोधित करते हैं।

कृष्ण नाम ही सर्व-आकर्षक व्यक्ति का द्योतक है, अतः भगवान् कृष्ण जो समस्त सौन्दर्य तथा आनन्द के स्रोत हैं अवश्य ही “प्रिय वस्तु, व्यक्ति, हर्ष, आनन्द” हैं। और: ये सारे शब्द अन्ततः कृष्ण के ही सूचक हैं।

धाम स्वरूप का भी द्योतक है और जब इन्द्र ने यह स्तुति की तो वह अपने समक्ष कृष्ण के स्वरूप को प्रत्यक्ष देख रहा था।

जैसाकि वैदिक वाङ्मय में स्पष्ट तौर पर बतलाया गया है भगवान् कृष्ण की शक्ति, बल, यश, वैभव आदि उनके दिव्य शरीर में निहित होते हैं अतएव वे भगवान् के अनन्त यश की पुष्टि करते हैं।

श्रील श्रीधर स्वामी ने धाम के इन सारे अर्थों को बड़ी सुन्दरता से संक्षिप्त तौर पर संस्कृत शब्द स्वरूप का पर्याय माना है। स्वरूप का अर्थ है “अपना रूप” या “अपनी निजी दशा, या प्रकृति।” चूँकि शुद्ध आत्मा होने के कारण भगवान् कृष्ण अपने शरीर से अभिन्न हैं अतएव भगवान् तथा उनके दृश्य रूप में कोई भी अन्तर नहीं है। इसके विपरीत हम बद्धजीव इस भौतिक जगत में अपने शरीर से बिल्कुल भिन्न होते हैं चाहे नर का शरीर हो या नारी का, चाहे वह काला हो या गोरा। हम सभी अपने नाशवान घृणित शरीरों से पृथक् नित्य आत्माएँ हैं।

जब स्वरूप शब्द हम पर लागू किया जाता है, तो यह विशेष रूप से हमारे आध्यात्मिक स्वरूप का द्योतन करता है क्योंकि हमारा “अपना रूप” वस्तुतः हमारी “अपनी दशा या प्रकृति” होता है। अतः वह मुक्त अवस्था जिसमें मनुष्य का बाह्यरूप उसकी गहनतम आध्यात्मिक प्रकृति होता है स्वरूप कहलाता है। किन्तु मूलतः यह शब्द भगवान् श्रीकृष्ण का द्योतक है। यह इस श्लोक के तव धाम से स्पष्ट है, जिसकी व्याख्या श्रीधर स्वामी ने की है।

श्रीधर स्वामी ने यहाँ पर शान्तम् शब्द का अर्थ “सदैव एक ही रूप में” बतलाया है। शान्तम् का अर्थ “अविचलित, काम से मुक्त या शुद्ध” भी हो सकता है। वैदिक दर्शन के अनुसार इस जगत के सारे परिवर्तन रजो तथा तमोगुण से उत्पन्न होते हैं। रजोगुण सृजनात्मक है और तमोगुण विध्वंसक है, जबकि सत्त्व या सतोगुण शान्त तथा टिकाऊ है। यह श्लोक कई प्रकार से इस पर बल देता है कि भगवान् कृष्ण प्राकृतिक गुणों से मुक्त हैं। विशुद्ध-सत्त्वं, शान्तम्, ध्वस्त-रजस्तमस्कम् तथा गुणसम्प्रवाहो न विद्यते ते—ये सारे शब्द इसी को इंगित करने वाले हैं। कृष्ण के विपरीत हम सभी लोग प्रकृति के गुणों में उलझे होने के कारण देहान्तरण करते रहते हैं, भौतिक स्वरूपों के विविध रूपान्तर (विकार) प्रकृति के गुणों द्वारा प्रेरित होते हैं और ये गुण स्वयं काल के प्रभाव से गति प्राप्त करते हैं। अतएव जो व्यक्ति प्रकृति के गुणों से मुक्त है, वह अपरिवर्तित रहता है और आनन्दमय दिव्य जगत में सदैव तुष्ट रहता है। इस तरह शान्तम् शब्द बतलाता है कि भगवान् किसी भी परिवर्तन से अविचल रहते हैं क्योंकि वे प्रकृति के भौतिक गुणों से मुक्त हैं।

इस श्लोक के अनुसार तीनों भौतिक गुणों अर्थात् रजोगुण, तमोगुण एवं सांसारिक शुद्धता का प्रबल प्रवाह अग्रहण पर आधारित होता है, जिसका अनुवाद श्रील श्रीधर स्वामी ने “अज्ञान” किया

है। चूँकि संस्कृत धातु, ग्रह का अर्थ “लेना, स्वीकार करना या जानना” है।

अतः ग्रहण का अर्थ हुआ “किसी विचार या तथ्य को पकड़ना।” अतः अग्रहण का अर्थ हुआ अपनी आध्यात्मिक स्थिति को न समझ पाना और न समझ पाने के कारण ही वह संसार के प्रबल प्रवाह में गिर जाता है।

अग्रहण शब्द का एक अन्य अर्थ भी निकलता है जब इसे अग्र-हण में तोड़ा जाता है। अग्र का अर्थ है “प्रथम, सर्वोच्च, सर्वश्रेष्ठ” और हण का अर्थ है “मारना।” हमारे जीवन का सर्वश्रेष्ठ अंग शुद्ध आत्मा है, जो नित्य है, जबकि शरीर तथा मन क्षणिक हैं। अतएव जो व्यक्ति कृष्ण-भक्ति की तुलना में संसार का वरण करता है, वह अपने सर्वश्रेष्ठ अंग आत्मा का हनन करता है क्योंकि आत्मा अपने शुद्ध रूप में असीम कृष्ण-भक्ति का भोग करता है।

श्रील श्रीधर स्वामी ने तपोमयम् का अर्थ “ज्ञान से पूर्ण” दिया है। तपस् शब्द का सामान्य अर्थ तपस्या है और यह तप् धातु से निकला है, जिसका कुल मिलाकर अर्थ होता है सूर्य के विविध कार्य। तप् का अर्थ है “जलना, चमकना, गर्म करना, इत्यादि।” भगवान् शाश्वत रूप से पूर्ण हैं अतएव यहाँ पर तपोमय यह नहीं बतलाता कि भगवान् का दिव्य शरीर तपस्या के लिए है क्योंकि तप तो बद्धजीवों द्वारा अपने आपको शुद्ध बनाने या कोई विशेष शक्ति प्राप्त करने के लिए किया जाता है। सर्वशक्तिमान, पूर्ण जीव न तो अपने को शुद्ध बनाता है न ही शक्ति प्राप्त करता है—वह तो नित्य शुद्ध एवं सर्वशक्तिमान होता है। इसलिए श्रीधर स्वामी ने बड़ी ही बुद्धिमानी से तपस् का अर्थ “सूर्य का प्रकाशित करने का कर्म” लगाया है और इस तरह यह सूचित करता है कि भगवान् का आत्मतेजोमय शरीर सर्वज्ञ है। प्रकाश ज्ञान का सामान्य प्रतीक है। भगवान् का आध्यात्मिक तेज मोमबत्ती या बिजली के बल्ब के समान शारीरिक प्रकाश ही नहीं देता। इससे भी बड़ी बात है कि भगवान् का शरीर हमारी चेतना को पूर्ण ज्ञान से प्रकाशित करता है क्योंकि भगवान् का तेज स्वयं पूर्ण ज्ञान है।

हम श्रील श्रीधर स्वामी के चरणों को सादर नमस्कार करते हैं और इस श्लोक की उनकी प्रकाशमयी टीका के लिए उन्हें धन्यवाद देते हैं।

कुतो नु तद्धेतव ईश तत्कृता

लोभादयो येऽबुधलिनाभावाः ।
 तथापि दण्डं भगवान्बिभर्ति
 धर्मस्य गुप्त्यै खलनिग्रहाय ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

कुतः—कैस; नु—निश्चय ही; तत्—उस (भौतिक शरीर के अस्तित्व) के; हेतवः—कारण; ईश—हे प्रभु; तत्-कृताः—
 भौतिक देह से सम्बन्ध होने से उत्पन्न; लोभ-आदयः—लोभ इत्यादि; ये—जो; अबुध—अज्ञानी व्यक्ति के; लिना-भावाः—
 लक्षण; तथा अपि—तो भी; दण्डम्—दण्ड; भगवान्—भगवान्; बिभर्ति—घुमाता है; धर्मस्य—धर्म का; गुप्त्यै—सुरक्षा के
 लिए; खल—दुष्ट व्यक्तियों के; निग्रहाय—दण्ड के लिए।

तो भला आपमें अज्ञानी व्यक्ति के लक्षण—यथा लोभ, काम, क्रोध तथा ईर्ष्या—किस तरह
 रह सकते हैं क्योंकि इनकी उत्पत्ति संसार में मनुष्य की पूर्व-लिप्तता के कारण होती है और ये
 मनुष्य को संसार में अधिकाधिक जकड़ते जाते हैं? फिर भी हे परमेश्वर, आप धर्म की रक्षा करने
 तथा दुष्टों का दमन करने के लिए उन्हें दण्ड देते हैं।

तात्पर्य : इन्द्र के इस जटिल दार्शनिक कथन की व्याख्या इस प्रकार की जा सकती है—इस
 श्लोक की प्रथम पंक्ति में इन्द्र उस मुख्य विचार का सन्दर्भ देता है, जो पिछले श्लोक के अन्त में आया
 है—यह कि भगवान् के भीतर तमोगुण पर आश्रित जगत का सुप्रवाह नहीं रह सकता। *तद्-हेतवः* तथा
तत्-कृताः शब्द बतलाते हैं कि किसी कारण से प्रकृति के गुण प्रकट होते हैं और ये ही गुण अपने
 उत्पन्न करने वाले के कारण बन जाते हैं। इस श्लोक की द्वितीय पंक्ति में हम पाते हैं कि लोभ, काम,
 ईर्ष्या तथा क्रोध जैसे भौतिक भाव प्रकृति के गुणों को प्रकट करते हैं और वे स्वयं प्रकृति के गुणों द्वारा
 उत्पन्न किये जाते हैं।

इस विरोधाभास की व्याख्या इस प्रकार से की जा सकती है : जब बद्धजीव भौतिक गुणों की
 संगति करने का निर्णय कर लेता है, तो वह इन गुणों से संदूषित हो जाता है। जैसाकि *गीता* (१३.२२)
 में कहा गया है—*कारणं गुणसंगोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु।* उदाहरणार्थ, विमोहक नारी की उपस्थिति में
 मनुष्य अपनी निम्न मानसिक प्रवृत्तियों का शिकार होकर उसके साथ संभोग करने का प्रयास कर
 सकता है। इस तरह जब वह प्रकृति के निम्न गुणों की संगति में रहने को चुनता है, तो उसमें इन गुणों
 की प्रबल प्रधानता हो जाती है। वह कामवासना से अभिभूत हो जाता है और अपनी तीव्र इच्छा की
 तुष्टि के लिए बारम्बार प्रयास करता है। चूँकि उसके मन में कामवासना व्याप्त हो जाती है इसलिए वह
 जो भी करता है, सोचता और बोलता है उसमें यौन के प्रति प्रबल आसक्ति झलकती रहेगी। दूसरे

शब्दों में, प्रकृति के वासनापूर्ण गुणों की संगति चुनकर वह उन्हें अपने में प्रबलतापूर्वक प्रकट होने का अवसर प्रदान करता है और अन्ततः ये वासनात्मक गुण उसे दूसरा ऐसा भौतिक शरीर धारण करने के लिए बाध्य करते हैं, जो इन गुणों से नियंत्रित कार्यों के लिए उपयुक्त हो।

काम, लोभ, क्रोध तथा ईर्ष्या जैसे निम्न गुण *अबुध-लिंग भावाः* अर्थात् अज्ञान के लक्षण हैं। जैसाकि श्रील श्रीधर स्वामी ने अपने भाष्य में इंगित किया है, प्रकृति के गुणों की अभिव्यक्ति और विशेष भौतिक देह की अभिव्यक्ति दोनों पर्यायवाची हैं। पूरे वैदिक साहित्य में स्पष्ट बतलाया गया है कि बद्धजीव को एक विशेष देह प्राप्त होता है; वह उसे त्यागकर अन्य शरीर ग्रहण करता है क्योंकि वह प्रकृति के गुणों में फँसा रहता है (*कारणं गुणसंगोऽस्य*)। इस तरह यह कहना कि कोई व्यक्ति प्रकृति के गुणों में सम्मिलित हो रहा है यह कहना होगा कि वह जिन गुणों में फँसा है उन विशेष गुणों के अनुरूप वह विशिष्ट प्रकार के शरीर ग्रहण करता है।

एक अबोध अजनबी व्यक्ति कृष्ण द्वारा गोवर्धन-धारण लीला की व्याख्या इस प्रकार कर सकता है : वृन्दावन के निवासी वैदिक नियमों के अनुसार स्वर्ग के देवता इन्द्र को कुछ भेंटें चढ़ाने के लिए बाध्य थे। बालक कृष्ण ने इन्द्र के पद की अवहेलना करके इन भेंटों का हरण करके उन्हें अपने आनन्द के लिए ले लिया। जब इन्द्र ने कृष्ण तथा उनके संगियों को दण्डित करना चाहा तो भगवान् ने इन्द्र के प्रयास को विफल कर दिया, उसे अपमानित किया और उसके गर्व तथा उसके साधनों को समाप्त कर दिया।

लेकिन इस श्लोक में ऐसी हल्की व्याख्या का प्रतिवाद किया गया है। यहाँ देवराज इन्द्र श्रीकृष्ण को *भगवान्* कहकर सम्बोधित करता है, जिससे यह सूचित होता है कि श्रीकृष्ण कोई सामान्य बालक नहीं प्रत्युत ईश्वर हैं। अतएव कृष्ण द्वारा इन्द्र को दण्डित करना धर्म की रक्षा करने तथा दुष्टों का दमन करने के उनके उद्देश्य का अंगमात्र था। यह न तो भौतिक क्रोध का प्रदर्शन था, न ही इन्द्र की भेंटों के लिए लोभ था। श्रीकृष्ण शुद्ध आध्यात्मिक जीव हैं और उनकी सरल शुद्ध कामना यही रहती है कि सारे जीवों को वे पूर्ण आनन्दमय कृष्णभावनामृत जीवन में लगा दें। हमें कृष्णभावनाभावित बनाने की उनकी इच्छा अहंवादी नहीं है क्योंकि अन्ततः कृष्ण सबकुछ हैं और कृष्णभावनामृत ही सर्वोत्कृष्ट चेतना है। इन्द्र वास्तव में कृष्ण का विनीत सेवक है, जिस भाव को अब वह स्मरण करने लगा है।

पिता गुरुस्त्वं जगतामधीशो

दुरत्ययः काल उपात्तदण्डः ।

हिताय चेच्छातनुभिः समीहसे

मानं विधुन्वन्जगदीशमानिनाम् ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

पिता—पिता; गुरुः—गुरु; त्वम्—तुम; जगताम्—सारे विश्व के; अधीशः—परम नियन्ता; दुरत्ययः—दुर्लभ्य; कालः—काल; उपात्त—घुमाता है; दण्डः—दण्ड; हिताय—लाभ हेतु; च—तथा; इच्छा—स्वेच्छा से धारण किया गया; तनुभिः—आपके दिव्य स्वरूपों द्वारा; समीहसे—आप प्रयास करते हैं; मानम्—मिथ्या गर्व; विधुन्वन्—समूल नष्ट करके; जगत्-ईश—ब्रह्माण्ड के स्वामी; मानिनाम्—बनने वालों के ।

आप इस सम्पूर्ण जगत के पिता, आध्यात्मिक गुरु और परम नियन्ता भी हैं। आप दुर्लभ्य काल हैं, जो पापियों को उन्हीं के हित के लिए दण्ड देता है। निस्सन्देह स्वेच्छा से लिये जाने वाले विविध अवतारों में आप उन लोगों का मिथ्या दर्प दूर करते हैं, जो अपने को इस जगत का स्वामी मान बैठते हैं।

तात्पर्य : हिताय शब्द यहाँ सार्थक है। भगवान् कृष्ण सारे जगत के लाभ हेतु धर्म की रक्षा करते हैं और दुष्टों का दलन करते हैं। मूर्ख तथा श्रद्धाविहीन छद्मपुरोहित ईश्वर की यह कहकर आलोचना करते हैं कि वे प्रकृति के कार्यों द्वारा जीवों को दण्ड देते हैं। किन्तु चाहे वे अप्रत्यक्ष रूप से प्रकृति के माध्यम से दण्ड दें अथवा अपने अवतारों द्वारा प्रत्यक्ष रूप से दण्ड दें जैसाकि इस श्लोक में उल्लेख हुआ है, उन्हें इसका पूर्ण अधिकार है क्योंकि वे सम्पूर्ण जगत के पिता, गुरु तथा अधीश हैं। दूसरी विधि में दुर्लभ्य काल के रूप में वे बद्धजीवों द्वारा ईशविहीन ईश्वर का साम्राज्य स्थापित करने के मिथ्या प्रयासों पर नियंत्रण रखते हैं। कहा गया है कि बिना प्रताड़ना के बालक बिगड़ जाता है। यह सत्य है। यह तो भगवान् का अनुग्रह है कि वे हमारे दुराचरण को सुधारने का प्रयत्न करते हैं यद्यपि श्रद्धाविहीन लोग इस पितृ-तुल्य निगरानी की आलोचना करते हैं।

ये मद्धिधाज्ञा जगदीशमानिन-

स्त्वां वीक्ष्य कालेऽभयमाशु तन्मदम् ।

हित्वार्यमार्गं प्रभजन्त्यपस्मया

ईहा खलानामपि तेऽनुशासनम् ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

ये—जो लोग; मत्-विध—मेरी तरह; अज्ञाः—मूर्ख व्यक्ति; जगत्-ईश—जगत के स्वामियों की तरह; मानिनः—अपनी झूठी पहचान करने वाले; त्वाम्—तुमको; वीक्ष्य—देखकर; काले—(भय के) समय में; अभयम्—निर्भय; आशु—तुरन्त; तत्—उनका; मदम्—मिथ्या गर्व; हित्वा—त्यागकर; आर्य—आध्यात्मिक जीवन में प्रगति करने वाले भक्तों का; मार्गम्—पथ; प्रभजन्ति—ग्रहण करते हैं; अप-स्मयाः—गर्व से मुक्त; ईहा—कर्म; खलानाम्—दुष्टों का; अपि—निस्सन्देह; ते—तुम्हारे द्वारा; अनुशासनम्—आदेश।

मुझ जैसे मूर्खजन जो अपने को जगत का स्वामी मान बैठते हैं तुरन्त ही अपने मिथ्या गर्व को त्याग देते हैं और जब वे आपको काल के समक्ष भी निडर देखते हैं, तो वे तुरन्त आध्यात्मिक प्रगति करने वाले भक्तों का मार्ग ग्रहण कर लेते हैं। इस तरह आप दुष्टों को शिक्षा देने के लिए ही दण्ड देते हैं।

तात्पर्य : इतिहास में ऐसे अनेक उदाहरण हैं जहाँ भगवान् मूर्खों के मिथ्या गर्व को चूर करते हैं। आधुनिक विश्व-नेता बड़े ही गर्व के साथ एक-दूसरे से युद्ध करते हैं और सामान्य लोगों के जीवन को अभूतपूर्व संकट में डाल देते हैं। इसी तरह अपने सुविदित पद से गर्वित इन्द्रने भोलेभाले वृन्दावनवासियों को विनाशकारी शस्त्रों से धमकाने का साहस किया जिसके कारण परमेश्वर को उसकी इस उद्धतता को तुरन्त दमित करना पड़ा।

आजकल पाश्चात्य देशों में प्रजातंत्र सरकारें चुनी जाती हैं जिससे जन समुदाय की पहचान उनके नेताओं के भाग्य से की जाती है। जब ये गर्वित नेता हिंसा पर उतारू होते हैं, तो उन्हें चुनने वाली जनता को उनके युद्धकारी निर्णयों का फल भुगतना पड़ता है। अतएव संसार के प्रजातांत्रिक राष्ट्रों की जनता को चाहिए कि वे कृष्णभावनाभावित नेताओं को चुनें जो ईश्वर के नियमों से मेल खाने वाले प्रशासन की स्थापना करेंगे। यदि वे ऐसा नहीं करते तो उनके भौतिकतावादी नेता परमेश्वर की इच्छा को विस्मृत करने के कारण निस्सन्देह विप्लवकारी घटनाओं द्वारा प्रताड़ित होंगे और जिन लोगों ने ऐसे नेताओं को चुना था वे अपने नेताओं के कार्यों के लिए उत्तरदायी होने के कारण कष्ट में भागीदार होंगे।

विडम्बना है कि आधुनिक प्रजातंत्रों में न केवल नेतागण अपने को अधीश्वर मानते हैं अपितु जनता इन नेताओं को ईश्वर का प्रतिनिधि न मानकर केवल अपना प्रतिनिधि मानने के साथ साथ अपने आपको भी राष्ट्र का नियन्ता मानती है। इस तरह इस श्लोक में वर्णित दण्ड आधुनिक जगत के सामान्य लोगों पर लागू होता है।

आधुनिक मनुष्य को अपने गर्वित पद से नीचे गिरकर यह प्राकृतिक सीख ही नहीं लेनी चाहिए अपितु उसे सर्व-आकर्षक भगवान् श्रीकृष्ण की इच्छा को विनीत भाव से पूरा करना चाहिए और

बुद्धिमानी, शान्ति तथा व्यापक प्रबुद्धता के नवीन युग का सूत्रपात करना चाहिए।

स त्वं ममैश्वर्यमदप्लुतस्य

कृतागसस्तेऽविदुषः प्रभावम् ।

क्षन्तुं प्रभोऽथार्हसि मूढचेतसो

मैवं पुनर्भून्मतिरीश मेऽसती ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

सः—वह; त्वम्—आप; मम—मेरे; ऐश्वर्य—शासन के; मद—नशे में; प्लुतस्य—निमग्न रहने वाले; कृत—किया हुआ; आगसः—अपराध; ते—आपका; अविदुषः—न जानने के कारण; प्रभावम्—दिव्य प्रभाव को; क्षन्तुम्—क्षमा करने के लिए; प्रभो—हे प्रभु; अथ—अतएव; अर्हसि—आपको चाहिए; मूढ—मूर्ख; चेतसः—जिसकी बुद्धि; मा—कभी नहीं; एवम्—इस प्रकार; पुनः—फिर; भूत्—होए; मतिः—चेतना; ईश—हे प्रभु; मे—मेरी; असती—अशुद्ध।

अपनी शासनशक्ति के मद में चूर एवं आपके दिव्य प्रभाव से अनजान मैंने आपका अपमान किया है। हे प्रभु, आप मुझे क्षमा करें। मेरी बुद्धि मोहग्रस्त हो चुकी थी किन्तु अब मेरी चेतना को कभी इतनी अशुद्ध न होने दें।

तात्पर्य : यद्यपि भगवान् कृष्ण ने गोवर्धन पर्वत उठाकर व्रजवासियों की रक्षा कर दी थी किन्तु इन्द्र को अभी तक दण्डित नहीं किया था अतएव इन्द्र भयभीत था कि श्रीकृष्ण किसी भी समय विवस्वान् पुत्र यमराज को बुला सकते हैं, जो ईश्वर के नियमों का उल्लंघन करने वाले उद्धत व्यक्तियों को दण्ड देता है।

इन्द्र अत्यधिक भयभीत था इसलिए उसने यह दलील देते हुए क्षमा-याचना की कि एकमात्र कृष्ण-कृपा से ही वह शुद्ध हो सकता है क्योंकि वह इतना जिद्दी है कि केवल दण्ड से वह नहीं सुधर सकता है।

वस्तुतः इन्द्र द्वारा दीनता के प्रदर्शन के बावजूद उसका हृदय पूरी तरह शुद्ध नहीं था। आगे चलकर इसी स्कन्ध में हम देखेंगे कि जब एक बार भगवान् कृष्ण ने इन्द्र के राज्य से एक पारिजात पुष्प लिया तो बेचारे इन्द्र ने भगवान् के विरुद्ध उग्र प्रतिक्रिया दिखलाई। अतएव हमें कृष्ण के राज्य में अपने शाश्वत धाम वापस जाने की आकांक्षा करनी चाहिए। हमें भौतिक देवताओं के अपूर्ण जीवन में उलझना नहीं चाहिए।

तवावतारोऽयमधोक्षजेह

भुवो भराणामुरुभारजन्मनाम् ।
 चमूपतीनामभवाय देव
 भवाय युष्मच्चरणानुवर्तिनाम् ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

तव—आपका; अवतारः—अवतरण; अयम्—यह; अधोक्षज—हे दिव्य प्रभु; इह—इस; भुवः—पृथ्वी के; भराणाम्—भार स्वरूप; उरु-भार—अनेक उत्पातों के प्रति; जन्मनाम्—जन्म देने वालों; चमू-पतीनाम्—सैन्य नायकों के; अभवाय—विनाश के लिए; देव—हे भगवान्; भवाय—मंगल के लिए; युष्मत्—आपके; चरण—चरणकमल; अनुवर्तिनाम्—सेवकों का।

हे दिव्य प्रभु, आप इस जगत में उन सेनापतियों को विनष्ट करने के लिए अवतरित होते हैं, जो पृथ्वी का भार बढ़ाते हैं और अनेक भीषण उत्पात मचाते हैं। हे प्रभु, उसी के साथ साथ आप उन लोगों के कल्याण के लिए कर्म करते हैं, जो श्रद्धापूर्वक आपके चरणकमलों की सेवा करते हैं।

तात्पर्य : इस श्लोक में आकर्षक कवित्व-प्रकल्पना का प्रयोग हुआ है। इस जगत में भगवान् कृष्ण का अवतरण *अभव* के लिए जिसका शाब्दिक अर्थ है आसुरी सेनापतियों को “मिटाने” या उनका विनाश करने के लिए और साथ ही भगवान् के चरणकमलों की श्रद्धापूर्वक सेवा करने वालों के *भव* अर्थात् “अस्तित्व, सम्पन्नता” के लिए होता है।

भव शब्द से इंगित वास्तविक अस्तित्व तो *सच्चिदानन्द* स्वरूप है। एक अजनबी को ऐसा प्रतीत हो सकता है कि कृष्ण अपने अनुयायियों को पुरस्कृत करते हैं और अपने शत्रुओं को दण्ड देते हैं जैसाकि कोई सामान्य मनुष्य करता है। छठे स्कन्ध में यह विशेष संशय भगवान् के विषय में किया जाता है जहाँ विश्व युद्ध में कृष्ण श्रद्धालु देवताओं का पक्ष श्रद्धाविहीन असुरों के मुकाबले में लेते हैं। वहाँ वैष्णव आचार्य यह स्पष्ट विवेचना करते हैं कि कृष्ण पिता हैं और सारे जीवों के स्वामी हैं अतएव उनके सारे कार्यकलाप सारे जगत के लाभ हेतु हैं। वास्तव में भगवान् कृष्ण किसी का अस्तित्व मिटाना नहीं चाहते प्रत्युत जो ईश्वरीय नियमों का उल्लंघन करते हैं उनके मूर्खतापूर्ण, विनाशकारी भौतिक तौर-तरीकों पर अंकुश लगाते हैं। ये नियम सम्पूर्ण सृष्टि में सम्पन्नता, समरसता तथा सुख का आश्वासन देते हैं और इनका उल्लंघन अन्यायपूर्ण उत्पात माना जाता है।

निश्चय ही इन्द्र को आशा थी कि भगवान् कृष्ण उसकी गणना अपने भक्तों में करेंगे, असुरों में नहीं यद्यपि इन्द्र के कार्यों से उसकी स्वामि-भक्ति में संशय झलकता है। इन्द्र इस सम्भव संशय से अवगत था इसीलिए जैसा हम अगले श्लोक में देखते हैं, उसने भगवान् के चरणों में आत्मसमर्पण करने का

भरसक प्रयत्न किया।

नमस्तुभ्यं भगवते पुरुषाय महात्मने ।

वासुदेवाय कृष्णाय सात्वतां पतये नमः ॥ १० ॥

शब्दार्थ

नमः—नमस्कार; तुभ्यम्—आपको; भगवते—भगवान् को; पुरुषाय—सबों के हृदयों में वास करने वाले प्रभु को; महा-
आत्मने—महान् आत्मा; वासुदेवाय—सर्वत्र निवास करने वाले को; कृष्णाय—कृष्ण को; सात्वताम्—यदु कुल के; पतये—
स्वामी को; नमः—नमस्कार।

सर्वव्यापी तथा सबों के हृदयों में निवास करने वाले हे परमात्मा, आपको मेरा नमस्कार। हे

यदुकुलश्रेष्ठ कृष्ण, आपको मेरा नमस्कार।

स्वच्छन्दोपात्तदेहाय विशुद्धज्ञानमूर्तये ।

सर्वस्मै सर्वबीजाय सर्वभूतात्मने नमः ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

स्व—अपने (भक्तों) की; छन्द—इच्छानुसार; उपात्त—धारण करने वाले; देहाय—दिव्य शरीर वाले को; विशुद्ध—नितान्त
शुद्ध; ज्ञान—ज्ञान; मूर्तये—स्वरूप वाले; सर्वस्मै—जो सर्वस्व है उसे; सर्व-बीजाय—सबों का बीज स्वरूप; सर्व-भूत—समस्त
प्राणियों के; आत्मने—अन्तरात्मा स्वरूप; नमः—नमस्कार।

अपने भक्तों की इच्छा के अनुसार दिव्य शरीर धारण करने वाले, शुद्ध चेतना रूप, सर्वस्व,
समस्त वस्तुओं के बीज तथा समस्त प्राणियों के आत्मा रूप आपको मैं नमस्कार करता हूँ।

तात्पर्य : इस श्लोक की प्रथम पंक्ति से यह पता नहीं लगाया जा सकता कि ईश्वर निर्विशेष है किन्तु निजी भौतिक शरीर धारण करता है। यहाँ पर स्पष्ट कहा गया है कि भगवान् स्वच्छन्द—अपनी इच्छानुसार या अपने भक्तों की इच्छाओं के अनुसार विविध रूप धारण करते हैं। निर्विशेष ईश्वर अपने भक्तों की साकार इच्छाओं से न तो आदान-प्रदान कर सकता है न ही निर्विशेष ईश्वर की अपनी इच्छाएँ हो सकती हैं क्योंकि इच्छाएँ तो व्यक्तित्व के लक्षण हैं। अतः साकार होकर विभिन्न रूपों को प्रकट करना, निजी इच्छाओं को व्यक्त करना यह सूचित करता है कि वह नित्य पुरुष है और अपनी दिव्य प्रकृति को अभिव्यक्त करने के लिए विविध शरीर धारण करता है।

विशुद्धज्ञानमूर्तये शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। मूर्ति का अर्थ है अर्चाविग्रह का रूप और यहाँ यह स्पष्ट कहा गया है कि भगवान् का रूप स्वयं विशुद्ध चेतना है। चेतना मूल आध्यात्मिक तत्त्व है, जो किसी भी भौतिक तत्त्व से अलग होता है, यहाँ तक कि सूक्ष्म या मनोवैज्ञानिक भौतिक तत्त्वों—मन,

बुद्धि तथा अहंकार—से भी भिन्न होता है, जो शुद्ध चेतना पर मात्र मनोवैज्ञानिक आवरण हैं। चूँकि भगवान् का स्वरूप शुद्ध चेतना से निर्मित होता है, अतः यह मांस-मज्जा से भरा भौतिक शरीर कभी नहीं हो सकता हम इस संसार में जिसे उठाए फिरते हैं।

इस श्लोक की अन्तिम दो पंक्तियों में सर्व शब्द पर कवित्व-बल दिया गया है। भगवान् सर्वस्व हैं, वे हर वस्तु के बीज हैं और हर प्राणी की आत्मा हैं। अतएव हम भी इन्द्र के साथ भगवान् को नमस्कार करते हैं।

मयेदं भगवन्नोष्ठनाशयासारवायुभिः ।

चेष्टितं विहते यज्ञे मानिना तीव्रमन्युना ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

मया—मेरे द्वारा; इदम्—यह; भगवन्—हे प्रभु; गोष्ठ—आपके ग्वाल समुदाय के; नाशाय—विनाश हेतु; आसार—मूसलाधार वर्षा से; वायुभिः—तथा हवा से; चेष्टितम्—चेष्टा किया गया; विहते—विध्वंस हो जाने पर; यज्ञे—मेरा यज्ञ; मानिना—मिथ्या गर्वित होने के कारण मेरे द्वारा; तीव्र—प्रखर; मन्युना—क्रोध होने से।

हे प्रभु, जब मेरा यज्ञ भंग हो गया, तो मैं मिथ्या अहंकार के कारण बहुत क्रुद्ध हुआ। इस तरह मैंने घनघोर वर्षा तथा वायु के द्वारा आपके ग्वाल समुदाय को विनष्ट कर देना चाहा।

त्वयेशानुगृहीतोऽस्मि ध्वस्तस्तम्भो वृथोद्यमः ।

ईश्वरं गुरुमात्मानं त्वामहं शरणं गतः ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

त्वया—आपके द्वारा; ईश—हे प्रभु; अनुगृहीतः—दया दिखाया हुआ; अस्मि—हूँ; ध्वस्त—छिन्न-भिन्न; स्तम्भः—मेरा मिथ्या अभिमान; वृथा—व्यर्थ; उद्यमः—मेरा प्रयास; ईश्वरम्—परमेश्वर की; गुरुम्—गुरु की; आत्मानम्—आत्मा की; त्वाम्—आपकी; अहम्—मैं; शरणम्—शरण में; गतः—आया हुआ।

हे प्रभु, मेरे मिथ्या अहंकार को चकनाचूर करके तथा मेरे प्रयास (वृन्दावन को दण्डित करने का) को पराजित करके आपने मुझपर दया दिखाई है। अब मैं, परमेश्वर, गुरु तथा परमात्मा रूप आपकी शरण में आया हूँ।

श्रीशुक उवाच

एवं सङ्कीर्तितः कृष्णो मघोना भगवानमुम् ।

मेघगम्भीरया वाचा प्रहसन्निदमब्रवीत् ॥ १४ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा; एवम्—इस प्रकार; सङ्कीर्तितः—महिमा बखान किये जाने पर; कृष्णः—कृष्ण; मधोना—इन्द्र द्वारा; भगवान्—भगवान्; अमुम्—उससे; मेघ—बादलों की तरह; गम्भीरया—गम्भीर; वाचा—वाणी से; प्रहसन्—हँसते हुए; इदम्—यह; अब्रवीत्—बोले।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : इस प्रकार इन्द्र द्वारा वन्दित होकर पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् कृष्ण हँसे और तब बादलों की गर्जना जैसी गम्भीर वाणी में उससे इस प्रकार बोले।

तात्पर्य : यद्यपि इस लीला में कृष्ण एक छोटे से बालक प्रतीत होते थे किन्तु मेघ-गम्भीरया वाचा शब्द बतलाते हैं कि वे भगवान् की गम्भीर वाणी में इन्द्र से बोले।

श्रीभगवानुवाच

मया तेऽकारि मघवन्मखभङ्गोऽनुगृहता ।

मदनुस्मृतये नित्यं मत्तस्येन्द्रश्रिया भृशम् ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—भगवान् ने कहा; मया—मेरे द्वारा; ते—तुम्हारे; अकारि—किया गया; मघवन्—हे इन्द्र; मख—यज्ञ का; भङ्गः—अवरोध; अनुगृहता—तुम पर दया दिखाते हुए; मत्-अनुस्मृतये—मेरा स्मरण करने के लिए; नित्यम्—निरन्तर; मत्तस्य—उम्मत का; इन्द्र-श्रिया—इन्द्र के ऐश्वर्य से; भृशम्—अत्यधिक।

भगवान् ने कहा : हे इन्द्र, मैंने तो दयावश ही तुम्हारे निमित्त होने वाले यज्ञ को रोक दिया था। तुम स्वर्ग के राजा के अपने ऐश्वर्य से अत्यधिक उम्मत हो चुके थे और मैं चाहता था कि तुम सदैव मेरा स्मरण कर सको।

तात्पर्य : श्रीधर स्वामी के अनुसार इन्द्र तथा भगवान् कृष्ण यहाँ पर अपने अपने मन की बात एक-दूसरे से कहते हैं। पहले इन्द्र ने अपने मन की बात प्रकट की और अब कृष्ण भी उसी तरह अपने मनोभाव प्रकट कर रहे हैं।

इस अध्याय के श्लोक ११ में इन्द्र ने बलपूर्वक यह कहा है कि कृष्ण ही सर्वस्व हैं अतएव इन्द्र के ही मानदण्ड के अनुसार कृष्ण को विस्मृत करना पागलपन है। जब भगवान् हमें अपने परम अस्तित्व का स्मरण दिलाते होते हैं, तो वे किसी संसारी राजनीतिज्ञ या स्वागतकर्ता की तरह प्रमादवश विज्ञापन नहीं करते। भगवान् अपने असीम अस्तित्व में आत्मतुष्ट रहते हैं और वे बड़े ही स्नेहपूर्वक हमें अपने नित्य संगियों के पूर्ण पद पर वापस लाने का प्रयास करते हैं।

ईश्वर की दृष्टि में स्वर्ग का राजा इन्द्र भी निरा बालक, नटखट बालक है और इसीलिए पालनकर्ता पिता की भाँति उन्होंने अपनी सन्तान को दण्ड दिया और उसे कृष्ण-भक्ति में ले आये।

मामैश्वर्यश्रीमदान्धो दण्ड पाणिं न पश्यति ।

तं भ्रंशयामि सम्पद्भ्यो यस्य चेच्छाम्यनुग्रहम् ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

माम्—मुझको; ऐश्वर्य—ऐश्वर्य; श्री—तथा वैभव के; मद—नशे से; अन्धः—अन्धा; दण्ड—दण्ड देने वाला डंडा लेकर; पाणिम्—अपने हाथ में; न पश्यति—नहीं देखता है; तम्—उसको; भ्रंशयामि—गिरा देता हूँ; सम्पद्भ्यः—उसकी भौतिक सम्पत्ति से; यस्य—जिसका; च—तथा; इच्छामि—चाहता हूँ; अनुग्रहम्—लाभ।

अपनी शक्ति तथा ऐश्वर्य के नशे में उन्मत्त मनुष्य मुझे अपने हाथ में दण्ड का डंडा लिये हुए अपने निकट नहीं देख पाता। यदि मैं उसका वास्तविक कल्याण चाहता हूँ तो मैं उसे भौतिक सौभाग्य के पद से नीचे घसीट देता हूँ।

तात्पर्य : कोई तर्क कर सकता है “ईश्वर को तो हरएक का वास्तविक कल्याण करना चाहिए तो फिर इस श्लोक में भगवान् कृष्ण ने यह क्यों कहा कि जिसे उनकी कृपा प्राप्त होने वाली होती है उसके उन्मत्तकारी ऐश्वर्य का वे हरण कर लेते हैं? उन्होंने यह क्यों नहीं कहा कि हरएक का ऐश्वर्य हर लेंगे और हरएक को वर देंगे? दूसरी ओर यह इंगित किया जाता है कि हरएक की मृत्यु ध्रुव है और इस तरह भगवान् कृष्ण हरएक के ऐश्वर्य तथा उसके मिथ्या अहंकार को छीन लेते हैं। किन्तु यदि मृत्यु के पूर्व मनुष्य के निकटतम जीवन की घटनाओं पर भगवान् के कथन को लागू करें तो हम *भगवद्गीता* (४.११) में व्यक्त कृष्ण के कथन का उल्लेख कर सकते हैं—*ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्*—लोग जिस प्रकार मेरी शरण में आते हैं उसी तरह मैं उन्हें पुरस्कार देता हूँ। कृष्ण हरएक के कल्याण की कामना करते हैं किन्तु जब वे यहाँ पर कहते हैं—*यस्य चेच्छाम्यनुग्रहम्*—मैं जिसका कल्याण करना चाहता हूँ तो ऐसा लगता है कि भगवान् उनका उल्लेख कर रहे हैं, जो अपने कर्मों तथा विचारों से आध्यात्मिक लाभ पाने की इच्छा व्यक्त कर चुके हैं। भगवान् कृष्ण चाहते हैं कि कृष्णभावनामृत में हर व्यक्ति सुखी रहे किन्तु जब वे देखते हैं कि कोई विशिष्ट व्यक्ति भी आध्यात्मिक सुख चाहता है, तो भगवान् उस व्यक्ति के लिए विशेष रूप से कल्याण की कामना करते हैं। यह भगवान् के कथन *समोऽहं सर्वभूतेषु*—मैं सारे जीवों के प्रति समान भाव रखता हूँ—का स्वाभाविक पारस्परिक आदान-प्रदान है।

गम्यतां शक्र भद्रं वः क्रियतां मेऽनुशासनम् ।

स्थीयतां स्वाधिकारेषु युक्तैर्वः स्तम्भवर्जितैः ॥ १७ ॥

शब्दार्थ

गम्यताम्—जा सकते हो; शक्र—हे इन्द्र; भद्रम्—कल्याण; वः—तुम्हारा; क्रियताम्—तुम्हें पालन करना चाहिए; मे—मेरी; अनुशासनम्—आज्ञा का; स्थीयताम्—तुम रहे आओ; स्व—अपने; अधिकारेषु—उत्तरदायित्वों में; युक्तैः—लगे रहकर; वः—तुम; स्तम्भ—मिथ्या अहंकार; वर्जितैः—से रहित।

हे इन्द्र, अब तुम जा सकते हो। मेरी आज्ञा का पालन करो और स्वर्ग के राज-पद पर बने रहो। किन्तु मिथ्या अभिमान से रहित होकर गम्भीर बने रहना।

तात्पर्य : यहाँ पर भगवान् कृष्ण इन्द्र को बहुवचन में (वः) सम्बोधित करते हैं क्योंकि यह गम्भीर आदेश समस्त देवताओं के लिए शिक्षा के रूप में था।

अथाह सुरभिः कृष्णमभिवन्द्य मनस्विनी ।
स्वसन्तानैरुपामन्त्र्य गोपरूपिणामीश्वरम् ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

अथ—तब; आह—बोली; सुरभिः—गौवों की माता, सुरभि; कृष्णम्—कृष्ण को; अभिवन्द्य—वन्दना करते हुए; मनस्विनी—शान्त मन वाली; स्व-सन्तानैः—अपनी सन्तानों, गौवों समेत; उपामन्त्र्य—ध्यानाकर्षण की याचना करते हुए; गोप-रूपिणम्—ग्वालबाल रूपी; ईश्वरम्—भगवान् को।

तब अपनी सन्तान गौवों समेत माता सुरभि ने भगवान् कृष्ण को नमस्कार किया। उनसे ध्यान देने के लिए सादर प्रार्थना करते हुए उस भद्र नारी ने भगवान् को, जो उसके समक्ष ग्वालबाल के रूप में उपस्थित थे, सम्बोधित किया।

तात्पर्य : इस श्लोक में अपनी सन्तानों समेत जिस स्वर्गीय गाय सुरभि का भगवान् कृष्ण के पास जाने का वर्णन हुआ है वे दिव्य गौवें हैं, जो कृष्ण के साथ वृन्दावन में क्रीड़ा करती हैं। कृष्ण की गौवें दिव्य हैं और सुरभि ने उन्हें इसी रूप में स्नेहपूर्ण देखा। चूँकि भगवान् कृष्ण ग्वालबाल के रूप में प्रकट हुए थे अतएव परिस्थिति अनुकूल जानकर सुरभि ने उनकी निम्न प्रकार से स्तुति की।

सुरभिरुवाच

कृष्ण कृष्ण महायोगिन्विश्वात्मन्विश्वसम्भव ।
भवता लोकनाथेन सनाथा वयमच्युत ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

सुरभिः उवाच—सुरभि ने कहा; कृष्ण कृष्ण—हे कृष्ण, हे कृष्ण; महा योगिन्—हे महान् योगी; विश्व-आत्मन्—हे विश्व की आत्मा; विश्व-सम्भव—हे विश्व के उद्गम; भवता—तुम्हारे द्वारा; लोक नाथेन—विश्व के स्वामी द्वारा; स-नाथाः—नाथ से युक्त; वयम्—हम सभी; अच्युत—हे अच्युत।

माता सुरभि ने कहा : हे कृष्ण, हे कृष्ण, हे योगियों में श्रेष्ठ, हे विश्व की आत्मा तथा उद्गम,

आप विश्व के स्वामी हैं और हे अच्युत, आपकी ही कृपा से हम सबों को आप जैसा स्वामी मिला है।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर इंगित करते हैं कि माता सुरभि को “कृष्ण कृष्ण” दुहराने में परम प्रसन्नता हो रही है। कृष्ण ने अपनी योगशक्ति से गोवर्धन पर्वत उठाया और वृन्दावन की गौवों की रक्षा की जबकि सुरभि के तथाकथित स्वामी इन्द्र ने उन्हें मार डालने की कोशिश की थी। अब सुरभि की समझ में आया कि उसका असली स्वामी देवता नहीं हैं अपितु साक्षात् भगवान् कृष्ण सदा सर्वदा ही उनके असली स्वामी हैं।

त्वं नः परमकं दैवं त्वं न इन्द्रो जगत्पते ।

भवाय भव गोविप्र देवानां ये च साधवः ॥ २० ॥

शब्दार्थ

त्वम्—तुम; नः—हमारे; परमकम्—परम; दैवम्—आराध्य देव; त्वम्—तुम; नः—हमारे; इन्द्रः—इन्द्र; जगत्-पते—हे जगत के स्वामी; भवाय—कल्याण के लिए; भव—होओ, बनो; गो—गौवों; विप्र—ब्राह्मणों; देवानाम्—तथा देवताओं के; ये—जो; च—तथा; साधवः—सन्त पुरुषों।

आप हमारे आराध्य देव हैं। अतएव हे जगत्पति, गौवों, ब्राह्मणों, देवताओं एवं सारे सन्त पुरुषों के लाभ हेतु आप हमारे इन्द्र बनें।

तात्पर्य : भगवान् आत्मनिर्भर हैं, वे स्वयं सबकुछ कर सकते हैं। भगवान् ने अपनी असंख्य सन्तानों में से एक को इन्द्र-पद पर अर्थात् स्वर्ग के स्वामी के पद पर नियुक्त किया। किन्तु इन्द्र ने अपने पद का दुरुपयोग किया अतः अब सुरभि परम सत्य भगवान् कृष्ण से प्रार्थना कर रही है कि वे ही उसके स्वामी इन्द्र बनें। हमें बिना मिथ्या अभिमान के अपना कर्तव्य निभाना चाहिए। इस प्रकार हम न तो दुविधा में पड़ेंगे, न ही अनुपयोगी बनेंगे जैसाकि राजा इन्द्र बना जिसने भगवान् कृष्ण तथा उनके वृन्दावन के भक्तों पर आक्रमण किया।

इन्द्रं नस्त्वाभिषेक्ष्यामो ब्रह्मणा चोदिता वयम् ।

अवतीर्णोऽसि विश्वात्मन्भूमेर्भारापनुत्तये ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

इन्द्रम्—इन्द्र रूप में; नः—हमारे; त्वा—तुमको; अभिषेक्ष्यामः—हम सभी अभिषेक करेंगे; ब्रह्मणा—ब्रह्म द्वारा; चोदिताः—आदिष्ट; वयम्—हम; अवतीर्णः असि—तुम अवतीर्ण हुए हो; विश्व-आत्मन्—हे विश्वात्मा; भूमेः—पृथ्वी का; भार—भार; अपनुत्तये—कम करने के लिए।

ब्रह्माजी के आदेशानुसार हम इन्द्र के रूप में आपका राज्याभिषेक करेंगी। हे विश्वात्मा, आप पृथ्वी का भार उतारने के लिए इस संसार में अवतरित होते हैं।

तात्पर्य : इस श्लोक में सुरभि यह स्पष्ट कर देती है कि उसने पुरन्दर (इन्द्र) जैसे अपूर्ण देवताओं का नायकत्व देख लिया है। अब वह परमेश्वर की प्रत्यक्ष सेवा करना चाहती है। चूँकि ब्रह्मा ने उसे आदेश दिया है अतएव अपने निजी प्रभु के रूप में भगवान् कृष्ण का राज्याभिषेक करने का उसका प्रयास उच्चतर अधिकारी द्वारा अनुमत है। यही नहीं, भगवान् कृष्ण स्वयं ही इस धरा में आत्मघाती, संसारी प्रशासन का बोझ उतारने के लिए अवतरित होते हैं इसलिए उनका सुरभि का प्रभु बनना पूर्णतया उचित है। चूँकि भगवान् लाखों ब्रह्माण्डों पर शासन करते हैं अतएव वे अवश्य ही माता सुरभि की देखरेख कर सकते हैं।

वस्तुतः सुरभि अपनी शुद्धि के लिए भगवान् का अभिषेक करना चाहती थी और वह बड़ी ही ईमानदारी के साथ अपना प्रस्ताव विश्वात्मा श्रीकृष्ण के समक्ष रखती है।

श्रीशुक उवाच

एवं कृष्णमुपामन्त्र्य सुरभिः पयसात्मनः ।

जलैराकाशगङ्गाया ऐरावतकरोद्धृतैः ॥ २२ ॥

इन्द्रः सुरर्षिभिः साकं चोदितो देवमातृभिः ।

अभ्यसिञ्चत दशार्हं गोविन्द इति चाभ्यधात् ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा; एवम्—इस प्रकार; कृष्णम्—भगवान् कृष्ण से; उपामन्त्र्य—अनुरोध करके; सुरभिः—माता सुरभि ने; पयसा—दूध से; आत्मनः—अपने; जलैः—जल से; आकाश-गङ्गायाः—आकाश गंगा (मन्दाकिनी) के; ऐरावत—इन्द्र के वाहन, ऐरावत हाथी के; कर—सूँड़ से; उद्धृतैः—ले जाया जाकर; इन्द्रः—इन्द्र; सुर—देवताओं; ऋषिभिः—तथा ऋषियों द्वारा; साकम्—साथ में; चोदितः—प्रोत्साहित; देव—देवताओं की; मातृभिः—माताओं द्वारा (अदिति इत्यादि); अभ्यसिञ्चत—नहलाया; दशार्हम्—दशार्ह के वंशज, भगवान् कृष्ण को; गोविन्दः इति—गोविन्द के रूप में; च—तथा; अभ्यधात्—हे नमो देवे लोर्ड.

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : भगवान् कृष्ण से इस तरह याचना करने के बाद माता सुरभि ने अपने दूध से उनका अभिषेक किया और इन्द्र ने अदिति तथा देवताओं की अन्य माताओं से आदेश पाकर अपने हाथी ऐरावत की सूँड़ से आकाश गंगा के जल से भगवान् का जलाभिषेक किया। इस तरह देवताओं तथा ऋषियों की संगति में इन्द्र ने दशार्ह वंशज भगवान् कृष्ण का राज्याभिषेक किया और उनका नाम गोविन्द रखा।

तात्पर्य : आचार्यों के अनुसार इन्द्र वृन्दावन पर आक्रमण करने की भारी भूल से उद्विग्न था अतएव वह भगवान् की पूजा करने में अरुचि दिखा रहा था। इसीलिए अदिति इत्यादि देवमाताओं ने उसे आगे बढ़कर पूजा करने के लिए प्रोत्साहित किया। तत्पश्चात् इन्द्र ने अपने से कम उग्रस्वभाव वाले देवताओं के प्रोत्साहन से अनुमत होकर, भगवान् का अभिषेक किया। तब इन्द्र को पता चला कि कृष्ण नामक यह सुन्दर सा लड़का ही वास्तव में परमेश्वर है।

तत्रागतास्तुम्बुरुनारदादयो

गन्धर्वविद्याधरसिद्धचारणाः ।

जगुर्यशो लोकमलापहं हरेः

सुराङ्गनाः सन्नृतुर्मुदान्विताः ॥ २४ ॥

शब्दार्थ

तत्र—उस स्थान पर; आगताः—आकर; तुम्बुरु—तुम्बुरु नामक गन्धर्व; नारद—नारदमुनि; आदयः—इत्यादि देवता; गन्धर्व-विद्याधर-सिद्ध-चारणाः—गन्धर्व, विद्याधर, सिद्ध तथा चारणगण ने; जगुः—गाया; यशः—कीर्ति; लोक—समस्त जगत; मल—कल्मष; अपहम्—विनष्ट करने वाले; हरेः—भगवान् हरि का; सुर—देवताओं की; अङ्गनाः—पत्नियाँ; सन्नृतुः—एकसाथ नाचीं; मुदा अन्विताः—हर्ष से पूरित होकर।

वहाँ पर तुम्बुरु, नारद तथा विद्याधरों, सिद्धों और चारणों समेत अन्य गन्धर्वगण समस्त जगत को शुद्ध करने वाले भगवान् हरि के यश का गुणगान करने आये। और देवताओं की पत्नियाँ हर्ष से भरकर भगवान् के सम्मान में एकसाथ नाचीं।

तं तुष्टुवुर्देवनिकायकेतवो

ह्यवाकिरंश्चाद्भुतपुष्पवृष्टिभिः ।

लोकाः परां निर्वृतिमाप्नुवंस्त्रयो

गावस्तदा गामनयन्पयोद्भुताम् ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

तम्—उनकी; तुष्टुवुः—प्रशंसा की; देव-निकाय—सारे देवताओं के; केतवः—सर्वाधिक प्रमुख ने; हि—निस्सन्देह; अवाकिरन्—आच्छादित कर दिया; च—तथा; अद्भुत—आश्चर्यजनक; पुष्प—फूलों की; वृष्टिभिः—वर्षा से; लोकाः—जगतों ने; पराम्—परम; निर्वृतिम्—सन्तोष; आप्नुवन्—अनुभव किया; त्रयः—तीनों; गावः—गौवें; तदा—तब; गाम्—पृथ्वी को; अनयन्—बना दिया; पयः—अपने दूध से; द्रुताम्—सिक्त।

सर्वप्रमुख देवताओं ने भगवान् की प्रशंसा की और उनपर चारों ओर से फूलों की अद्भुत वर्षा की। इससे तीनों लोकों को परम संतोष का अनुभव हुआ और गौवों ने अपने दूध से पृथ्वी की सतह भाग को सिक्त कर दिया।

तात्पर्य : केतवः का शाब्दिक अर्थ “झंडे” है। प्रमुख देवतागण देव-जाति के प्रतीक या झंडे हैं

और इन सबों ने भगवान् के यश-गान में अगुवाई की और उन्हें रंगबिरंगे सुगंधित फूलों की अद्भुत वर्षा से ढक दिया।

नानारसौघाः सरितो वृक्षा आसन्मधुस्रवाः ।
अकृष्टपच्यौषधयो गिरयोऽबिभ्रनुमणीन् ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

नाना—विविध; रस—द्रव; ओघाः—बाढ़-सी लाते हुए; सरितः—नदियाँ; वृक्षाः—वृक्ष; आसन्—बन गये; मधु—मधुर रस से; स्रवाः—बहते हुए; अकृष्ट—बिना जोते-बोये ही; पच्य—पका हुआ; ओषधयः—पौधे; गिरयः—पर्वत; अबिभ्रन्—ले गये; उन्—धरती के ऊपर; मणीन्—मणियाँ।

नदियाँ विविध प्रकार के स्वादिष्ट द्रवों से युक्त होकर बहने लगीं, वृक्षों ने मधु निकाल लिया, खाद्य पौधे बिना जोते ही परिपक्व हो उठे और पर्वतों ने अपने गर्भ में छिपी मणियों को बाहर निकाल दिया।

कृष्णोऽभिषिक्त एतानि सर्वाणि कुरुनन्दन ।
निर्वैराण्यभवंस्तात क्रूराण्यपि निसर्गतः ॥ २७ ॥

शब्दार्थ

कृष्णो—भगवान् कृष्ण; अभिषिक्ते—अभिषेक किये गये; एतानि—ये; सर्वाणि—समस्त; कुरु-नन्दन—हे कुरुवंशी; निर्वैराणि—शत्रुता से रहित; अभवन्—हो गये; तात—हे परीक्षित; क्रूराणि—क्रूर; अपि—यद्यपि; निसर्गतः—प्रकृति द्वारा।

हे कुरुनन्दन परीक्षित, भगवान् कृष्ण को अभिषेक कराने के बाद सभी जीवित प्राणी, यहाँ तक कि जो स्वभाव के क्रूर थे, सर्वथा शत्रुतारहित बन गये।

तात्पर्य : जो लोग किसी प्रकार से सनकी हैं, वे केवल भगवान् की पूजा द्वारा उत्पन्न स्वर्गिक विश्व परिस्थिति के वर्णनों पर हँस सकते हैं। दुर्भाग्यवश आधुनिक मनुष्य ने अपनी सनक के कारण ही कृष्णभावनामृत के द्वारा पृथ्वी पर स्वर्ग बनाने को टुकराकर पृथ्वी पर नरक की स्थिति उत्पन्न कर दी है। यहाँ पर वर्णित भगवान् के शुभ अभिषेक से उत्पन्न परिस्थिति एक मौलिक ऐतिहासिक घटना है। चूँकि इतिहास की पुनरावृत्ति होती है अतएव आशा है कि कृष्णभावनामृत आन्दोलन पुनः स्वरूपसिद्ध विश्व की प्रकाशमय वास्तविकता को ला देगा।

इति गोगोकुलपतिं गोविन्दमभिषिच्य सः ।
अनुज्ञातो ययौ शक्रो वृतो देवादिभिर्दिवम् ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; गो—गौवों के; गो-कुल—तथा ग्वाल-जाति के; पतिम्—स्वामी को; गोविन्दम्—भगवान् कृष्ण को; अभिषिच्य—अभिषेक कराकर; सः—वह, इन्द्र; अनुज्ञातः—अनुमति दिये जाने पर; ययौ—चला गया; शक्रः—इन्द्र; वृतः—घिरा हुआ; देव-आदिभिः—देवताओं तथा अन्यो से; दिवम्—स्वर्ग को।

गौवों तथा ग्वाल-जाति के स्वामी भगवान् गोविन्द को अभिषेक कराने के बाद इन्द्र ने भगवान् की अनुमति ली और देवताओं तथा अन्य उच्च प्राणियों से घिरकर वह अपने स्वर्ग-धाम को लौट गया।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के दसवें स्कंध के अन्तर्गत “इन्द्र तथा माता सुरभि द्वारा स्तुति” नामक सत्ताइसवें अध्याय के श्री श्रीमद् ए.सी. भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद के विनीत सेवकों द्वारा रचित तात्पर्य पूर्ण हुए।